साहित्य, समाज और जनतंत्र

प्रफुल्ल कोलख्यान

आज सिद्धांत के स्तर पर समाज को जितनी अच्छी तरह हम समझते हैं, प्रेमचंद या चेखव या तालस्तॉय नहीं समझते थे। लेकिन यह भी सच है कि अपने समय के समाज की जीवित प्रक्रिया को, उसके बदन में छिपी हुई नसों के जाल को जितना वे जानते थे, उसके निकट संपर्क में जितना वे थे - अपने को कम्यूनिष्ट कहनेवाले हम लेखक नहीं जानते। इतिहास की जीवित प्रक्रिया को पेश करना तो बहुत बड़ी बात है - यह एक दौर के सभी जनवादी समूह का काम है और वह भी एकजुट होकर ।

- काशीनाथ सिंह

साहित्य, समाज और जनतंत्र के संबंधों के विभिन्न स्तर और आयाम का अवधाराणात्मक अध्ययन और मानव संबंध के विभिन्न परिप्रेक्ष्य में उनका समग्र विवेचन आज के साहित्य विमर्श की अनिवार्य जरूरतों में से एक है। उपलब्ध अवधारणाएँ पूरी तरह बेकार नहीं भी हों तब भी संदर्भों के सद्य: समुपस्थित परिप्रेक्ष्य में परीक्षित किये बिना उन्हें सिर्फ ढोया जा

सकता है, उससे अनुप्राणित और अनुप्रेरित नहीं हुआ जा सकता है। मानवीय मेधा के विकास क्रम को देखने से यह सहज ही परिलक्षित हो जाता है कि विरोध या अंधविरोध की प्रवृत्ति से परंपरा की जीवित और जीवनदायनी शक्ति की क्षयशीलता में उतनी वृद्धि नहीं होती है जितनी कि नासमझ परंपरा-प्रेम या-अंधप्रेम के आग्रह के कारण बिना परखे उसे ढोये जाने की किर्तनिया चर्या से होती है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में इस किर्तनिया चर्या का वर्चस्व बढ़ रहा है। कोलाहल के संसदीय आचरण का प्रभाव एक तरह से विमर्श की प्रक्रिया की नियामक और निर्णायक पद्धति भी रच रहा है। सभ्यता के अवसान के ठीक पहले वह एक पकड़ जो कहती है -- ठहरो, कुछ सोच विचार करो यानी लोक-लाज दम तोड़ देती है। निराला जब पौराणिक देवी से नूतन की माँग करते हैं तब दरअसल वे परंपरा की नवोन्मेषशालिनी शक्ति और संभावना को ही अर्जित और परिमार्जित कर रहे होते हैं। संस्कृति का कल्पवृक्ष जीर्ण पत्रों के द्रुत झड़ने और नये पत्तों के प्रस्फुटन-पल्लवन के स्वचालित प्रकृति-चक्र के माध्यम से अपने को सदैव नवीकरण की प्रक्रिया के सातत्य से जोड़े रखता है। संस्कृति के क्षेत्र में उपलब्ध का मंथन और परिशोधन ही नवीकरण की इस प्रक्रिया की संभावना सिरजता है। संतरण, अनुसरण, कीर्तन भजन और अनुगमन मुख्य रूप से परंपरा और संस्कृति का भोग-पक्ष हुआ करता है, कर्तृ-पक्ष नहीं। परंपरा का तिरस्कार, अस्वीकार, अनात्मीयकरण और स्मृति-विलोपन भी अंतत: अपने समग्र प्रभाव में समाज और जाति को उसकी सांस्कृतिक चेतना की आत्मिक शक्ति से काटकर जातीय सार्थकता को ही लील जाता है। खतरे दोनों तरफ से हैं। हिंदी समाज और साहित्य दोनों इस समय एक प्रकार की सांस्कृतिक किंकर्तव्य विमूढ़ता की इस खतरनाक गहरी घाटी से गुजर रहे हैं। बुनियादी बातों पर विचार करनेवाले या इन बातों से अपने अंदर की हलचल से मुखातिब होनेवाले लोगों की पुकार इतनी बिखरी-बिखरी है कि अभी वह किसी वैचारिक सूत्रात्मकता के निरूपण में सफल नहीं हो पा रही है। निश्चय ही इसके कारण साहित्य में तो हैं ही इसके बाहर राज और समाज में भी हैं। जो हो, अपनी सीमाओं के अंदर, इन्हीं बिखरी-बिखरी पुकारों को एक प्रकार से समझने का यह छोटा-सा प्रयास भर है। इस प्रयास में साहित्य, समाज और जनतंत्र पर अलग-अलग और फिर एक साथ इनके पारस्परिक संबंधों की स्थिति और संभाव्यता पर भी विचार किये जाने का प्रयास किया गया है।

साहित्य

साहित्य का जन्म और विकास मनुष्य के रूप में पशु के कायांतरण के साथ-साथ उसकी चेतना, भावना, आकांक्षा के मानवीय पक्ष के जन्म और विकास से भी संबंधित है। मनुष्य के मनुष्य बनने की प्रक्रिया और साहित्य की सृजन प्रक्रिया में कहियत भिन्न, न-भिन्न का संबंध है। दरअसल पशु से मनुष्य बनने की संपूर्ण संघर्ष-यात्रा का भाव-साक्षी साहित्य रहा है।

मनुष्य के सुख-दुख में उसका वास्तविक भाव-सहचर साहित्य ही होता है। हमारे पास जो साहित्य आज उपलब्ध है वह स्वभावत: एक स्तर पर विकसित मनुष्य का ही साहित्य है। उसका ज्ञात, लिखित और एकत्रित इतिहास भी उसी विकसित मनुष्य का इतिहास है। यह बहुत अचंभे की बात है कि दुनिया का श्रेष्ठ साहित्य मानवीय विकासक्रम के पहले ज्ञात चरण में ही लिख लिया गया। यह कैसे हुआ? क्या साहित्य की शुरुआत शिखर से ही होती है? क्या मनुष्य के साहित्य और उसकी संस्कृति की चरम उपलब्धि उसकी चेतना के उष:काल में ही हो गयी थी? जब कि, मानवीय मेधा के अन्य क्षेत्र की परवर्ती उपलबिधयाँ पूर्ववर्ती की तुलना में अधिक स्पृहणीय रही हैं। इस अंतर्विरोध को समझना होगा।

यों तो, पिछले सात-आठ हजार साल में यानी जब से हमें इतिहास का साथ मिलता है तब से, दुनिया की बनावट और बुनावट दोनों में निरंतर परिवर्तन घटित होते रहने के प्रमाण मिलते ही हैं तथापि पिछले दो-ढाई सौ साल में परिवर्तन की प्रक्रिया का वेगवर्द्धन विस्मयकारी रहा है। बीसवीं शताब्दी के अंत तक आते-आते दुनिया के नित-नित नूतन होने का ही नहीं क्षण-क्षण क्षरित और पुरातन होते जाने का एहसास एक साथ होने लगा है। अपने हासिल को इतनी जल्दी हुस्स होते मनुष्य ने इसके पहले कभी नहीं देखा था। भविष्य में ताक-झाँक करने का साहस कर सकनेवाले लोग चकित और हतप्रभ दोनों हैं। वे आगामी के संगामी बनने की बाध्यता से अवगत तो हैं ही उसके लिए प्रस्तुत और उसके प्रति शंकालू भी कम नहीं हैं। वस्तुत: मनुष्य की आत्म-रचित दुनिया के भौतिक पक्ष में जितना तीव्र परिवर्तन घटित हुआ उतना तीव्र परिवर्तन उसके मानसिक, नैतिक और सामाजिक पक्ष में घटित नहीं हो सका। बल्कि, इस परिवर्तन के क्रम में उसके मानस का नैतिक-संकाय विवेक शून्य नहीं तो मुक्त अवश्य ही होता गया है। ऐसा नहीं कि पहले सब कुछ विवेक सम्मत और नैतिक था, ऐसा भी नहीं कि आज की दुनिया से पहले की दुनिया को श्रेष्ठ बताने की कोशिश की जा रही है--- कहा सिर्फ यह जा रहा है कि जिस तेजी से ज्ञान-विज्ञान का विकास हुआ उस तेजी से विवेक और नैतिकता का विकास संभव नहीं हुआ। लौह युग के विवेक के साथ ही यदि साइबरयुग के मनुष्य को भी जीना पड़े तो क्या कहा जाये? ज्ञानोदय का महात्म्य अपनी जगह, सचाई अपनी जगह! ऊपर से ज्ञान की आँधी ऐसी चली साधो कि विवेक का विमर्श ही प्रकारांतर से अप्रासंगिक होता चला गया। साहित्य सहचर-साक्षी की हैसियत से खिसककर अनुचर की स्थिति को प्राप्त होता चला गया। साहित्य के सामने उपस्थित चुनौती के एक पक्ष को यहाँ समझा जा सकता है।

ज्ञान-विज्ञान, विनोदन एवं मन:प्रसादन की विभिन्न शाखा-प्रशाखाओं के इस विकसित युग में साहित्य को प्रासंगिक बनाये रखने के क्या आधार हो सकते हैं? तात्पर्य यह कि साहित्य के प्रयोजन को फिर एक बार जाँच लेने के प्रस्ताव के मर्म को समझना ही होगा। पूछना और बताना चाहिए कि आखिर साहित्य क्यों? सामाजिक या पाठकीय पक्ष की ऐसी कौन-सी जरूरत है जिसे सिर्फ और सिर्फ साहित्य ही पूरा कर सकता है? सब कुछ के बावजूद मानवीय व्यक्तित्व का वह कौन-सा संकाय है जो साहित्य के अभाव में अतृप्त रह जा सकता है? या कि पुरानी चीजों से मनुष्य के स्वाभाविक मोह के कारण बिना किसी वास्तविक जरूरत के भी इसे विकास की नई चंचल दुनिया में हम साथ लेकर चलना चाहते हैं? या जिस प्रकार बिना किसी वास्तविक जैविक अनिवार्यता के भी हमारे कुछ अंग हमारे शरीर में पीढ़ी-दर-पीढ़ी बने हुए हैं उसी प्रकार साहित्य को भी साथ लेकर चलने की सनातनी भाव-मुद्रा हमारे साथ बनी हुई है? तात्पर्य यह कि व्यक्ति केंद्रिकता के दबाव के इस युग में साहित्य के सामाजिक संबंध के साथ ही इसके व्यक्ति संबंध की भी परीक्षा की जानी चाहिए।

जिस प्रकार आज किसी महागाथा या प्रधान केंद्रिकता को नकारकर सिर्फ अपनी-अपनी गथाओं और निठठ स्थानिकता का महत्व स्थापित किया जा रहा है उसकी अनिवार्य तार्किक परिणति समाज के अस्तित्व को नकारकर सिर्फ व्यक्ति के वजूद को ही सत्य मान लेने में ही होती है। खतरा यह है कि हम एक दुधारी विचारधारा के युग में प्रवेश कर रहे हैं जो अपने को सत्य माने जाने का भी उतना ही तीव्र और अतर्क्य आग्रह रखती है जितना कि अपनी विपरीत और विरोधी तथा व्याघाती विचारधारा को भी सत्य मान लिये जाने का रखती है। एक ऐसी विचारधारा जिसमें श्याम और अ-श्याम दोनों एक साथ सत्य हो सकते हैं। जिसकी विचारधारा का सार यह है कि विचारधारा नाम की कोई चीज होती ही नहीं है। दिलचस्प स्थिति यह है कि एक ओर तो व्यक्ति की अपनी विशिष्टता, विलक्षणता, और निजपन के लोप की प्रक्रिया तेज की जा रही है तो दूसरी ओर व्यक्ति को ही सबकुछ बताते और मानते हुए उसकी सामाजिकता, अर्थात व्यक्तियों के कॉमन फेक्टर, के हर महत्वपूर्ण सूत्र को छिन्न-भिन्न किये जाने का भी इंतजाम किया जा रहा है। जो लोग सत्य के सामाजिक या सामान्य होने से इनकार कर रहे हैं वे लोग ही अपने इस सत्य का प्रचार इस तत्परता से कर रहे हैं कि यह सत्य सबका सामान्य सत्य हो जाये। यह लगभग वही प्रक्रिया है जो प्रक्रिया विश्व को प्रपंच, लीला या माया बतानेवालों की जमात को ही विश्व के सत्व और स्वत्व के सर्वाधिक आधिपत्य एवं भोग की परिस्थितियाँ उपलब्ध करवाती है। राजा या नियामक की शक्ति, समूह या समाज से अलग और दो इंच ऊपर उठकर रहता हुआ दीखने में होती है। जब कि सामान्य जन की शक्ति समाज या समूह से सहबद्ध दीखने और होने में

रहती है। अकेलेपन की दुनिया में जीवन की कोई स्थिति ही नहीं बनती है। इस बौद्धिक हड़बोंग से साहित्य ही निपट सकता है। साहित्य ही तमाम उपलब्धियों-अनुपलब्धियों के बीच साँस ले रहे मनुष्य से अकेले-अकेले भी और उसके पूरे सामाजिक परिप्रेक्ष्य में भी बात कर सकता है, संवाद कर सकता है। अथाह मन की थाह ले सकता है। सामाजिक द्वंद्वों के वैयक्तिक परिप्रेक्ष्य और वैयक्तिक द्वंद्वों के सामाजिक प्रतिफलनों की सतत सक्रिय प्रक्रिया के अंतर्गत मनुष्य की जागतिक एवं अधि-जागतिक आकांक्षाओं, संबंधों के समीकरण-विषमीकरण को भी संवेदना और विवेक के संतुलनात्मक इस्तेमाल के अपने विशेषाधिकार एवं क्षमता से नये तौर-तरीके पर समुच्चित कर सकता है और जारी समुच्चय का निर्मोचन भी कर सकता है। साहित्य की परिसीमा के बाहर वस्तु-स्थिति एवं मन:स्थिति, आत्म-स्थिति एवं अनात्म-स्थिति, मम-निर्मम एवं ममेतर के द्वंद्वों की जीवंत, संवादात्मक और संवेदनात्मक अभिव्यक्ति संभव ही नहीं हो सकती है। अव्यतीत-अतीत और अनागत-अतीत की सांप्रतिक समुपस्थिति एवं प्रस्तुति के संवेदन-प्रवण आधार की उपलब्धि सिर्फ साहित्य ही संभव कर सकता है। वाह्य जगत की घटनाओं और अंतर्जगत की भावनाओं को संघनित कर संघटित करता हुआ काल को मानस का अवयव बनाकर उपलब्ध करवाना सिर्फ साहित्य के बूते की ही बात है। मानसीकरण की इस प्रक्रिया में काल-संकोचन और काल-संप्रसारण में सिर्फ साहित्य ही सक्षम होता है। इस प्रकार साहित्य काल से होड़ लेता है। उपलब्ध के आधार पर उपलब्धेय की पहचान के लिए यथार्थ और कल्पना, स्वप्न और संभावना के पुर्नपुनर्संयोजन और अभियोजन की संवेदनात्मक प्रक्रिया का रस-पक्ष और ज्ञान-पक्ष भी साहित्य में ही उपलब्ध होता है। सिर्फ मनोरंजन साहित्य का लक्ष्य नहीं हो सकता है लेकिन मनोरंजन पक्ष की अवहेलना से साहित्य की प्रभावशीलता खतरे में पड़ जाती है। इस खतरे का सबसे अधिक खामियाजा प्रगतिशील साहित्य को भोगना पड़ा है। मनोरंजन के लिए सबसे पहले मन के मैल को धोना पड़ता है। मैल धोये बिना तो कपड़ा भी नहीं रंगा जा सकता है, मन रंगना तो बड़ी बात है। साहित्य ही सावधान करता है कि मन न रंगाये, रंगाये जोगी कपड़ा? क्योंकि, कपड़ा धोना फिर भी आसान है मन धोना तो बहुत ही कठिन है। मनुष्य के भौतिक विकास के इस कठिन मानस-युग में साहित्य की सामान्य सीमा यह दीखती है कि वह या तो मन धोने में ही अपनी समस्त क्षमता का संपूर्ण लगाकर मन को बेरंग कर चुक जाता है या फिर काली कमरी पर रंग चढ़ाने की निष्फल चेष्टा में ही खप जाता है। चुनौती धोकर रंगने की है, वास्तविक मनोरंजन की है। इसे साहित्य ही पूरा कर सकता है। साहित्य समकक्षों को जोड़नेवाले भाव-प्रवाह के वाद और संवाद का निर्वचन होता है श्रेष्ठ का आशीर्वचन नहीं। तिरगुन फाँस लिये डोलनेवाले माया विचारकों की आज क्या कमी है, तथापि शिवेतर के क्षरण के लिए आदेशात्मक और उपदेशात्मक हुए बिना साहित्य ही कांता-कथन के लिए रसात्मक वाक् और अर्थ बनकर करूणा और नैतिकता की सामाजिक भित्ति का अन्वेषण कर सकता है। तात्पर्य यह कि साहित्य मानवीय मेधा के उस

संवेदनात्मक संकाय का सानुगतिक सृजन-संवर्द्धन करता है जो उसे जमीन पर चलने, पानी में तैरने और आकाश में उड़ने में सक्षम बनाता है। बिना पद के चलने, बिना कर के करने की मानवीय क्षमता को विस्तार देता है साथ ही कोमल पद से कठिन भूमि पर चलने की ऐतिहासिक अनिवार्यता को भी तुरंत निदर्शित करता है। मनुष्य के मन को कुसुम से कोमल और वज्र से कठोर बनने की जरूरत को न सिर्फ रेखांकित करता है बल्कि इसके लिए अनिवार्य मानसिक व्यायाम का भी सामाजिक आधार प्रस्तुत करता है। साहित्य, कर्म को केलि और केलि को कर्म की संभावनाओं से संयुक्त करता है। हरि स्मरण और काम-कला-विलास के मनोरथ के पूरा होने के आश्वासन की संभावनाओं को एक साथ एक परिसर में सिरजता है। साहित्य सब का पक्ष लेकर निष्पक्षता से उपस्थित होता है और निष्पक्षता को उभय-निष्क्रियता की ओट से मुक्त करता है। संघर्ष में हर्ष का संपुट और हर्ष में शील के उत्कर्ष का उत्थापन करता है।

कहने की जरूरत नहीं है कि साहित्य की जरूरत आज पहले से कहीं ज्यादा ही है। साहित्य की कतिपय प्रविधियों को लेकर कुछ अन्य विधाएँ भी सक्रिय और गतिशील हैं और बाजार के चालू दृष्टिकोण से सफल भी कही जा सकती हैं। लेकिन सांस्कृतिक दृष्टिकोण से देखें तो यह सहज ही स्पष्ट हो जाता है कि उनकी सक्रियता में वह धैर्य, गतिशीलता में वह स्थैर्य नहीं है जो साहित्य के स्वत्व और सत्व का विकल्प बन सकें। यह अलग प्रसंग है कि तात्कालिकता के बनते-बिगड़ते दबाव के कारण साहित्य अपने स्वत्व और सत्व के संज्ञान में निरंतर कमजोर पड़ता गया है। इस संकट को समझे जाने की जरूरत है। लेखक और पाठक एक ही सूत्र के दो छोर होते हैं। आज पाठक और लेखक दोनों की ही मन:स्थिति अ-धीर एवं अ-गंभीर बन गयी है। एक छोर पर लेखक इस बारे में आश्वस्त और दृढ़ नहीं है कि उसे अपने पाठक को क्या, कैसे और क्यों उपलब्ध करवाना है तो दूसरी छोर पर पाठक भी यह नहीं समझ पा रहा है कि साहित्य से उसे क्या-क्या हासिल हो सकता है या उसकी किन मानसिक जरूरतों को साहित्य कैसे पूरा कर सकता है। यह कमी भी अंतत: लेखकीय खाते में ही दर्ज की जायेगी और की जानी भी चाहिए। वचन-प्रवीण होना और बात है और कवि होना और बात। आज के अधिकतर साहित्यकार वचन-प्रवीण होकर ही संतुष्ट हैं। कवि होने की आकांक्षा में अंतर्निहित अनिवार्यता और संभावना को पकड़ भी नहीं पा रहे हैं। कोई बड़ा और सार्थक स्वप्न उनके मन में अंकुरित भी नहीं हो पा रहा है। साहित्य के दायित्वबोध से विमुक्त अधिसंख्य समकालीन साहित्यकार बिना सिद्धि के प्रसिद्धि के आखेट में निकला हुआ अंधा अहेरी बनकर रह गया है। इसका एक प्रमुख कारण उस सरोकार का निरंतर क्षीण होते चला जाना है जो उसे उसके अपने एकांत में निर्विशिष्ट मनुष्य बनाता है। आज का मनुष्य भीड़ में एकाकी रहता है जबकि अकेले में भीड़ के भीषण दबाव को झेलता है। उपलब्धि में

अनुपलब्धि के दंश और अनुपलब्धि में उपलब्धि की मिथ्या प्रतीति के संत्रास का शिकार बनता है। इस दंश और संत्रास की परिधि से बाहर निकले बिना वह मूल प्रतिज्ञा ही पकड़ में नहीं आ सकती है जो लेखक बनने की प्रक्रिया या लेखकीय दायित्व के निर्वाह की प्रक्रिया की पहली जरूरत हुआ करती है। लोक-वेद के साथ बहते हुए चले जाने से बात नहीं बननेवाली, दीपक को हाथ में लेना ही होगा। गुरू की प्रतीक्षा फलवती हो सकती है लेकिन सच पूछिये तो एक कठिन आत्म संघर्ष से गुजरे बिना आत्मदीपो भव के बुद्ध आदेश का कोई अर्थ ही हासिल नहीं होता है। लेखकीय प्रतिज्ञा और संकल्प के अभाव के ऐसे ही अवसन्न समय में यह बौद्धिक प्रस्ताव उपस्थित होता है कि अर्थ का निवास पाठ में उपलब्ध होता है, परिपाठ या समाज में नहीं। अर्थ का निवास पाठक के सामजिक-मन में नहीं, पाठक के व्यक्ति-मन में होता है। अब मन में ही फोड़ना हो तो लड्डू फोड़िये या कपाल, क्या फर्क पड़ता है। यानी, जाकी रही भावना जैसी प्रभु मूरत देखी तिन तैसी। मध्यकाल में भी इतनी सतर्कता बरती गयी थी कि प्रभु की प्रतीति (अर्थ की परिव्याप्ति) को भावना का विषय माना गया था लेकिन अब जो महर्षि इत-उत प्रकाश करते फिर रहे हैं वे इसे भावना से नहीं सीधे ज्ञान से जोड़ने का साधू प्रस्ताव रखते हैं। ज्ञान की ऐसी आँधी कि आँधीबाजों का गाल बजाना ही पांडित्य का मूल प्रमाण बन जाये, शायद ही पहले कभी इस रूप में इतनी भयावहता से उठी हो! क्योंकि आज ज्ञान की इस आँधी के साथ अंतर्राष्ट्रीय आवारा पूँजी और बाजार की साइबरी माया का गठजोड़ अभूतपूर्व है। दरअसल विचार-तंत्र की यही अर्थ-क्रीड़ा जन को जनतंत्र के लाभांशों से वंचित करती है। जनवाणी को तंत्र की व्यवस्थापिका अपने तयशुदा अर्थों के ही संदर्भ में समझती है। वस्तुत: अर्थ की प्रामाणिकता का एक मात्र आधार वाक के उद्गम में ही होता है, उद्गम से कटा हुआ अर्थ इस या उस गलतफहमी से ही उत्पन्न होता है। पानी-पानी की गुहार में निहित अर्थ को गुहार लगानेवाले से जोड़कर समझा जा सकता है। यदि गुहार लगानेवाला प्यासा हो और सुननेवाला अपने हिसाब से उसका अर्थ तय करता रहे तो गुहार लगानेवाला बेचारा प्यासा ही मर जायेगा। दुखद यह कि अपनी ऐसी मौत के पीछे किसी नैतिक अथवा अर्थनैतिक विडंबना की करुण आहट भी नहीं छोड़ पायेगा। और यही तो चाहते हैं भाषा के नये अर्थशास्त्री कि बाजार के अर्थ को अपनी सुविधा और जरूरत के अनुसार नियंत्रित करनेवाले महाप्रभु के हाथ में ही भाषा के अर्थ के नियंत्रण का भी अधिकार सौंप दिया जाये, बिना किसी नैतिक विडंबना या विकलता की गुंजाइश छोड़े। क्या ही ऐंद्रजालिक स्थिति है। आँधर गुरू तो बहिर चेला :: माँगे गुड़, तो देवे ढेला। भाषा का कारोबार सिर्फ साहित्य तक ही तो सीमित नहीं होता है। विधि-विधान या कहिये कानून भी तो अंतत: भाषा के लिबास में ही उपलब्ध होते हैं, तो क्या कानून का अर्थ और उसकी व्याख्या हर कोई अपने-अपने ढंग से किया करेगा? बाजार कहेगा

हाँ, जरूर, यही तो है असली आजादी, खाँटी राम-राज। इसी के लिए तो मुनि जन्म-जन्मांतर से जप-तप करते आ रहे हैं, देशभक्त प्राण न्यौछावर करने का त्यौहार मनाते आ रहे हैं!

साहित्य में एक ओर तो सिद्धांतों की बड़ी-बड़ी और सूक्ष्म बातें विमर्श और बहस के केंद्र में रहा करती है तो दूसरी ओर पद, पैसा, प्रतिष्ठा, संपर्क, जाति-बिरादरी, गोत्रादि के विभिन्न संदर्भों से समीकरणों के आधार पर मूल्यांकन की तथाकथित प्रक्रिया का यशेष्णा-यज्ञ भी निर्मोक भाव से जारी रहता है। इसके अनेक दिलचस्प और हास्यास्पद उदाहरण तब सामने आते हैं जब महर्षियों की तलहत्थी पर जनमी महान प्रतिभाएँ गर्भ में प्राप्त अक्षय यश के वरदान के साथ जब इस कठोर संसार में आविर्भूत होती हैं तो कदम-दो-कदम चलते-न-चलते मुमुर्षु हो जाती हैं। सदियों की प्रतिष्ठा सेकेंडों में अर्जित कर लेने की सफलता के भ्रम की उम्र उतनी भी नहीं होती है, जितनी उम्र इस खेल में लगी पत्रिकाओं और संस्थाओं को कैलेंडर बख्सा करती है। तत्काल का ऐसा हुल्लड़ खड़ा करने में मीडिया अर्थात हिंदी अखबारों और पत्रिकाओं के साहित्यिक पन्नों की अपनी सुनियोजित भूमिका होती है तो लघु कही जानेवाली कुछ महत्वपूर्ण साहित्यिक पत्रिकाओं का भी योगदान कोई कम नहीं होता है। इस पूरे तिलस्म को समझ नहीं पाने या अपने भोलेपन से उबर नहीं पाने के कारण साहित्य का साधारण सिपाही या खुदरा कारोबारी बिना ढक्कन के बोतल की तरह मुँह खोले अवाक मुद्रा में इधर-उधर लुढ़कते हुए अपनी साहित्यिक इहलीला की समाप्ति स्वीकार लेने को बाध्य होता है; इस मिथ्याशा के सहारे कि आज की तेज रफ्तार जिंदगी में कोई जगह नहीं बनती है, कि वक्त सब का हिसाब कर देता है। मिथ्याशा इसलिए कि वक्त भी साधना की नहीं साधनों की ही परवाह करता है। सरसों में ही भूत आ बसे तो कोई क्या करे? तब क्या किया जाये? बेहतर और बचा हुआ विकल्प यही है कि रामझरोखे बैठकर जग का मुजरा देखा जाये? अर्थात शेअर बाजार की तरह यश-ग्राफ के उठने-गिरने के इस युग में यश मरीचिका में दौड़ती-भटकती प्रतिभाओं की विकल आत्मा का छट-पट नृत्य मजा लेकर देखा जाये। साथ ही यह भी जरूरी है कि अधीर और अ-स्थिर कर विकल बना देनेवाली स्थिति से खुद को यथासंभव बचाये रखा जाये। नहीं, नहीं यह तो तथाकथित उस मुख्यधारा का खेल है जहाँ प्रसाद वितरण चल रहा है। इस मुख्यधारा के बाहर साहित्य का प्रश्न अभी भी मनुष्य के हास-विलास, हर्ष-संघर्ष से जुड़ा हुआ है, चमक चाहे उसमें कुछ कम ही क्यों न हो, लेकिन निष्ठा जो साहित्य की पहली और अनिवार्य शर्त है का तुक वहाँ अभी विष्ठा से नहीं मिल गया है।

समाज

समाज को भारतीय संदर्भ में समाजों की तरह समझना जरूरी है। पिछले दो-ढाई सौ सालों में भारत के समाजों की आंतरिक संरचना में व्यापक परिवर्तन घटित हुआ है। औद्योगीकरण की प्रक्रिया के दिनानुदिन तीव्र होते जाने से उत्पादन शैली में व्यापक परिवर्तन घटित हुआ। इससे जीवन शैली और पारंपरिक मूल्य-चेतना में भी चारित्रिक बदलाव आया। यह बदलाव गुणात्मक और मात्रात्मक दोनों ही दृष्टि से अभूतपूर्व साबित हुआ। आबादी की गत्यात्मकता और संचार तथा परिवहन माध्यमों की सघनता एवं राजनैतिक व्याप्ति के वास्तविक प्रभाव क्षेत्र में बढ़ोत्तरी की तीव्रता के कारण निश्चित भू-भाग में सीमित और लगभग स्थिर स्वभाव के समाज की जगह विस्तृत भू-भाग में असीमित और गतिशील स्वभाववाला समाज विकसित होने लगा। इस विस्तार और गतिशीलता के कारण भाषा-भाव-विचार-धर्म-जातीय-क्षेत्रीय बहुलताओं की नयी जटिलताएँ बनने लगी। इस प्रकार स्थानिक और नैतिक समाज के ऊपर राष्ट्रीय और वैधानिक समाज का अस्तित्व बनने लगा। इसका नियमन पारंपरिक और अ-लिखित मान्यताओं के अनुसार उतनी ही दूर तक हो सकने की गुंजाइश बची जितनी दूर तक वह राजनैतिक शक्तियों द्वारा स्थिर की गयी मान्यताओं या कानून की संगति में हो। इस प्रकार मुख्य और प्रामाणिक नियामक शक्ति का स्रोत संस्कृति, सामाजिक मान्यता या परंपरा से विकसित नैतिक मूल्य-बोध में अंतर्निहित न होकर कानून में ही निहित होता गया। इस प्रकार नैतिक संगति की प्रासंगिकता कम होती गयी और कानूनी संगति की प्रासंगिकता बढ़ती गयी। नैतिकता का संबंध समाज से होता है जब कि कानून का संबंध राज से होता है। नैतिक-समाज से विधि-समाज में परावर्तन संस्कृति पर राजनीति के वर्चस्व को स्थापित करता है। यद्यपि विधि-समाज संसकृति-समाज की कतिपय विकृतियों को दूर करने में और तेजी से बदलते परिप्रेक्ष्य की अनुकूलता में बांछित जीवन-शैली की मान्यताओं की दृष्टि से अधिक उपयुक्त होता है तथापि यह काम समग्रता, सार्थकता और सफलता से तभी संभव हो सकता है जब संस्कृति-समाज के विधि समाज में और विधि-समाज के संस्कृति-समाज में परावर्तन की अबाध प्रक्रिया जारी रहे। ऐसा नहीं होने पर विधि-समाज एक अनैतिक-समाज बनकर रह जाता है। इसकी स्वाभाविक परिणति यह होती है कि नैतिकता संविधान की धाराओं में मुँह चुराती फिरती है और विधि-समाज का नेता क्रिकेट-ग्राउंड और फुटबॉल-ग्राउंड की स्थिति को तो स्वीकार करता है लेकिन मोरल-ग्राउंड की अवहेलना बड़ी आसानी से कर जाता है। पारंपरिक मान्यताओं के अनुसार और उसकी संगति में कानून के बनने और कानूनी संगति के अनुसार मान्ताओं की परंपरा विकसित न होने से नैतिकातीत विधि-समाज में घोड़ा और घास दोनों एक साथ अपने अस्तित्व रक्षा के लिए अपने-अपने तरीके से सक्रिय और संघर्षशील होते हैं।

समाज शास्त्र में परिभाषित समाज और साहित्य में गृहीत समाज के अर्थबोध के एक बुनियादी अंतर को सहज ही लक्षित किया जा सकता है। साहित्य में गृहीत समाज का आशय इतना व्यापक होता है कि उसकी सीमा में विश्व की संपूर्ण मानव आबादी ही नहीं अपितु सारे चर-अचर, गोचर-अगोचर, जड़-जंगम, चेतन-अचेतन आदि आसानी से समाहित हो जाते हैं। साहित्य के विश्व समाज से बाहर कुछ भी नहीं होता है। मनुष्य के सुख-दुख, हर्ष-उल्लास में नदी-सागर, पशु-पक्षी, ताल-तलैया सभी शामिल होते हैं। सभी मनुष्य की भाषा और संवेदना में सहज शामिल होकर संवाद की सार्थक संभावनाएँ रचते हैं। बहरहाल, साहित्य एक सामाजिक उत्पाद होता है। हाँ, यह जरूरी नहीं कि हरबार वह सीधे सामाजिक उत्पाद ही हो। कई बार तो साहित्य खुद साहित्य का या फिर राजनीति का भी उत्पाद हुआ करता है। ऐसा होना कई बार अच्छा भी होता है तो कई बार अच्छा नहीं भी होता है। लेकिन साहित्य का एक प्रमुख दायित्व यह भी हुआ करता है कि विधि समाज के सांस्कृतिक समाज में परावर्तन की प्रक्रिया में संवेदनात्मक भूमिका का निर्वाह किया करे या इस दिशा में पहल करे। अर्थात विधि-समाज में नैतिकता की बहाली करे और सहज मानवीय ममता, करूणा, प्रेम सहित अन्य गुणों को वैधानिकता की दुर्निवार यांत्रिकता के खतरों से बचाने और मुक्त रखने की चेष्टा करे। साहित्य के संस्कृति कर्म होने का मर्म ही यही है कि वह विचार को संस्कार में बदले। कानून का नैतिक वितान सिरजे। नैतिक-संकाय को सक्रिय रखे। विधि-समाज की नैतिक आकांक्षा की अभिव्यक्ति का एक जरिया साहित्य भी होता है। शायद सबसे अधिक सार्थक और प्रामाणिक जरिया। इस नैतिक-आकांक्षा के लिए साहित्य नाना रूप-विधान सिरजता है। आज के बनते हुए ग्लोबल मनोजगत को लें तो साफ-साफ दिखेगा कि एक ग्लोब के अंदर कई ग्लोब हैं । एक मन के अंदर कई मन हैं। एक अर्थ के अंदर कई स्वार्थ हैं। साहित्य इनके संयोजन, समंजन और सहयोजन के लिए एक-एक के अंदर के कई-कई की सार्थक अंतर्यात्रा के यात्रा-पथ को सुगम बनाता है और इसके लिए रंग-विरंग की अल्पनाओं की कल्पना को आकार देता है।

समाज में लंपटों की प्रभुताई का कोई पहला कालखंड नहीं है समकाल। बल्कि लंपटों की प्रभुताई और वर्चस्व और प्रभुताई से मुक्ति का संघर्ष ही सामाजिक संघर्ष हुआ करता है। लंपटों की प्रभुताई के कई स्तर और प्रकार होते हैं। कई बार तो यह लंपटता इतनी भव्य और दिव्य होती है कि शोभा कहि न जाइ, का कहिये। एक संदर्भ में सत्य एक वचन ही हो सकता है लेकिन मिथ्या बहुवचनशीला हुआ करती है। इस बहुवचनीयता से ही मिथ्या बहुविकल्पा भी बन जाती है। जिसे जो विकल्प सूट करे उसे वह अपना ले। यहाँ ग्लोबल समाज के बनाये या बताये जा रहे मिजाज के इस संदर्भ को देखें तो शीघ्र ही पता चल जाता है कि विप्र लोग जिसे उत्तर-आधुनिक कह कर मुदित हो रहे हैं, वह उतना ही पूर्व-आधुनिक भी है और

आधुनिक भी। यानी लंपटई का त्रैकालिक सत्य यही है कि एकं सद् विप्रं बहुधा वदंति। भाई सत्य है कि फरियादी का अपना अर्थ और मर्म होता है लेकिन सुननेवाला अर्थात सुनवाई की शक्ति रखनेवाला उसे अपनी सुविधा, इच्छा और जरूरत के अनुसार ही तो सुनेगा और अर्थ ग्रहण करेगा! प्यासे के लिए पानी का जो अर्थ होता है वही पिलानेवाले के लिए नहीं भी हो सकता है। होना चाहिए। इस चाहिए के लिए ही तो सारा नैतिक संघर्ष हुआ करता है। इस सत्य-मिथ्या क्रीड़ा और विश्व प्रपंच को साहित्य भली-भाँति समझता है। साहित्य मिथ्या को भी मनुष्योपयोगी और नैतिक होने पर सम्मान और दुलार देता है। इसलिए विशुद्ध सत्यान्वेषी प्रतिभाएँ साहित्य को कुछ-कुछ हेय नजर से देखती हैं। मनुष्यविरोधी और अनैतिक सत्य को साहित्य कड़ी फटकार लगाता है। साहित्य का आधार यथार्थ बनता है। यथार्थ सत्य नहीं होता है बल्कि सामान्य सत्यों का सार होता है, जिसे साहित्य अपनी कल्पना शक्ति से अर्जित, मिश्रित और पुनर्पुनर्सृजित करता हुआ अपना रूपाकार गढ़ता है। साहित्य का सत्य सत्यान्वेषियों का सत्य न हो कर भी उनके सत्य से अधिक जीवनोपयोगी, प्रामाणिक और मानवीय होता है।

आज के समाज का सबसे बड़ा संकट यह है कि उपलब्ध के अनुपलब्ध होने के दंश से मानवता त्रस्त है। मनुष्य एक जाति के रूप में अ-भाव से ग्रस्त न होकर उपलब्ध के एक जगह जमाव और गैर-वाजिब वितरण से पस्त है। चिकित्सा के क्षेत्र में इतनी प्रगति के बावजूद आज भी मनुष्य जाति की बहुत बड़ी आबादी साधारण-साधारण औषधि के अभाव में आजीवन कष्ट भोगती है। जाति के रूप में मनुष्य ने भले ही चाँद को नाप लिया हो लेकिन बहुत बड़ी आबादी के लिए अभी भी रात के अंधेरे से जूझने का सहारा लालटेन ही है। यानी मानवीय उपलब्धियों के विभिन्न चरणों पर मानवीय आबादी के विभिन्न अंश के कदम रुके हुए हैं। ये चरण मानव-समाज के विभिन्न अंशों को उनकी उपलब्धियों के आधार पर विभिन्न कालखंडों में विभाजित करते हैं। साथ ही यह भी कि उपलबिधयों की सार्थकता और प्रयोजनीयता भी इस खंडित रूप में ना-काफी बन कर रह जाती है। अब इस विडंबना को ही ध्यान से देखा जाये कि जितनी तेजी से संचार माध्यमों के संजाल सघन होते जा रहे हैं उतनी ही तेजी से मनुष्य संवाद हीनता की स्थिति में भी फँसता जा रहा है। इस संवादहीनता का एक कारण यह भी है कि किसी बात को वक्ता के संदर्भ से समझने का चलन कम होता जा रहा है। श्रोता के संदर्भ से समझने का चलन बढ़ रहा है। यानी, अर्थ का नियमन वक्ता (जरूरतमंद) की जरूरत के आधार पर नहीं बल्कि जरूरत को पूरा कर सकने की अपेक्षा जिस से है (दाता), की इच्छा, नीयत और क्षमता से होने का चलन बढ़ रहा है। बुद्धिमान और सुजान लोग इस चलन को महान सैद्धांतिक और दार्शनिक जामा पहनाने में व्यस्त हैं। यह बाजार की पुरानी शैली है। बाजार चीजों को विक्रेता का हित साधने के लिए

क्रेता के संदर्भ से प्रचारित करता है। बाजार कभी यह प्रचारित नहीं करता है कि वैसे तो सभी साबुन तात्विक रूप से एक ही हैं फिर भी फलां साबुन आप इसलिए खरीदिये कि यह कंपनी चलती रहे या यह आपके शहर की कंपनी है या यह ईमानदार कंपनी है, इसने सारा टैक्स समय और स्वेच्छा से जमा कर राज्य अर्थात आपके प्रति अपने सारे बकायों को अदा कर आपकी सेवा की है। क्योंकि बाजार त्याग के साथ-साथ संग्रह की संभावना पर विचार नहीं करता है, बल्कि वह त्याग का भी संग्रह कर लेने में माहिर होता है। बाजार में बारगेनिंग (दर-मोलाई) तो हो सकती है, संवाद नहीं हो सकता है। वाद और विवाद से ही चक्र पूरा हो जाता है एवं इस चक्कर में संवाद को बाहर धकेल दिया जाता है। संवाद के अभाव में चाहे जो हो सामाजिकता का संघटन नहीं हो सकता है। विधि-समाज के संस्कृति-समाज में परावर्तन की प्रक्रिया के जारी रहने की बात तो दूर की चीज है, अब तो विधि-समाज बाजार-समाज में परावर्तित हो रहा है। बाजार-समाज में समाज सिर्फ शब्दालंकार है। बाजार में हर कोई उप-भोक्ता होता है, सह-भोक्ता कोई नहीं होता है। बाजार उपभोग की बात करता है जबकि समाज की सांस्कृतिक नैतिकता का आधार सह-भोग की संभावना रचने और बनाये रखकर ही सार्थक होता है। यह सहभोग बाजार के लिए असुविधाजनक हुआ करता है। ऐसे में आज नैतिकता के लिए कोई गुंजाइश बचाये रखना एक चुनौती है। क्योंकि नैतिकता का संबंध सामाजिक आचरण संबंधी उन मान्यताओं से होता है जिन मान्यताओं का जन्म संवाद की सनातन-स्वचालित सक्रिय-प्रक्रिया से बनी वृहत्तर आम सहमति की भूमिका पर होता है और जहाँ तदनुसार कर्म के लिए इच्छा-स्वातंत्र्य के सार्थक सम्मान का हरसंभव अवकाश होता है। साहित्य के सांस्कृतिक-संघर्ष का यह एक सामाजिक प्रसंग है। रही ग्लोबल समाज की बात, तो साहित्य का समाज अपने स्वभाव से ही अनिवार्यत: ग्लोबल हुआ करता है। भौतिक उपलब्धियों के कई-कई ग्लोबों को साहित्य अपने संवेदनात्मक ग्लोब में समेट और सहेज लेता है। वसुधैव कुटुंबकम साहित्य की निष्पत्तिमूलक आकांक्षा है, किसी सत्ताधीश का राज-वाक्य नहीं। साहित्य कमजोर पड़ता है तो अपने इस दायित्व को पूरा नहीं कर पाता है। महान साहित्य आज भी मनुष्य की संवेदनात्मक एकता के अपने अंतर्निहित सूत्रों के बल पर टिका हुआ है, विज्ञापन के बल पर नहीं।

तथापि, आज समाज एक भिन्न प्रकार की टूटन की गिरफ्त में है। टूटन की यह नयी शैली है। समाज के टिके रहने के लिए नैतिक-मनोभूमि का होना अनिवार्य होता है। सह-विकास की प्रक्रिया के नैरंतर्य के लिए निश्छल संवाद की नैतिक-मनोभूमि में सातत्य का होना अनिवार्य होता है। निश्छलता बाजार की शब्दावली नहीं है। आज संवाद की पारिस्थितिकी का संयोजन बाजार का दिमाग लिये माध्यम गढ़ रहा है। गढ़ा हुआ संवाद संवेद की रचना

नहीं कर पाता है। सीधे और प्रत्यक्ष संवाद ही सच्चा और प्रभावकारी संवेद सृजित कर सकता है। माध्यम की दखलंदाजी संवाद को फालतू और निष्प्राण बना देती है। अधिकतम रियायत के साथ भी कहा जाये तो इसे रक्षा में हत्या ही कहा जा सकता है, मगर अंतत: है यह हत्या ही। माध्यम सूचनाओं का प्रसार चाहे जितना कर ले, लेकिन संवेद सृजित कर सकनेवाली प्रक्रिया को अंतत: क्षतिग्रस्त ही करता है। संवेदना का स्वांग चाहे जितना भर ले, लेकिन इस स्वांग के गर्भ से निकले या इस स्वांग में शामिल साहित्य वह दायित्व पूरा नहीं कर सकता है जिस दायित्व को पूरा करना आज समाज और साहित्य दोनों के लिए जीवन-मरण के प्रश्न-सा अनिवार्य है।

नकली या आभासी चीजों से संतुष्ट होने के इस युग में बाजार का सच यही है कि उत्पाद की वस्तु-निष्ठ गुणवत्ता से ही नहीं, विक्रेता के बखान से आखेटित क्रेता के झुकाव से उत्पाद का महत्व तय होता है। आखेटित क्रेता के झुकाव को जनप्रियता का नाम दिया जाता है। इस जनप्रियता के गिरफ्त में फँसे लोग तदनुरूप अपनी जरूरत और चर्या को बदल और बटोर कर फिर से स्थिर करने और फैलाने के काम में लग जाते हैं। जनप्रियता का बखानकर समरूप विश्व-ग्राम अर्थात ग्लोबल-समाज को गढ़ने में महात्माओं का तप हावड़ा स्टेशन के बिहारी कुली की तरह खट रहा है। इस ग्लोबल-समाज में एक-सा भोजन, एक-सा पहनावा, एक-सा नृत्य, एक-सा संगीत, एक-सा राग, एक-सा दर्शन, एक-सा साहित्य, एक-सी भाषा, एक-सी रूलाई, एक-सी हँसी, एक-सा सुख, एक-सा दुख ही नहीं एक-सी लंपटता और एक-सा शोषण ही स्वीकार्य बनेगा। इस समरूपता में मनुष्य की एकता याकि समता के लिए लेकिन कोई जगह नहीं है। वस्तुत: यह समरूपता भी अपने मूल चरित्र में आभासी ही है, क्योंकि इस समरूपता के अर्जन के लिए आवश्यक धन और संसाधन तथा अवसर के समरूप वितरण का कहीं कोई संकल्प नहीं है। इस समरूपता को तय वे शक्तियाँ करेंगी जिनके हाथ में विश्व का आर्थिक वर्चस्व हस्तमालक की तरह सिमट कर आ जायेगा। यह वर्चस्व कायम ही नहीं रहे बल्कि बढ़ता भी जाये और बढ़कर विश्वाधारम-गगन सदृश्यम हो जाये। व्राह्मणों और क्लिंटनों की इस समरूप विश्वाकांक्षा से साहित्य की समरूप विश्वाकांक्षा का सीधा संघर्ष है। बहरहाल ये व्राह्मण और क्लिंटन समाज नहीं ग्लोबल-कठ-समाज के ढाँचागत विकास में लगे हैं और इस के लिए जनतंत्र की जगह जनतंत्र के ढकोसले का इस्तेमाल हथियार और औजार दोनों की तरह कर रहे हैं। इस ग्लोबल में दुर्बल के लिए कोई जगह नहीं है। फिलहाल यह कि तंत्र पर ऐसी ही शक्तियों का कब्जा है और इन नयी चुनोतियों से घिरे जन के साथ साहित्य का जुड़ना बाकी है। साहित्य को आज नये सिरे से व्राह्मणों और क्लिंटनों के अंतर्मन में प्रवेश कर कच की तरह जन के हित में संजीवनी विद्या हासिल करनी होगी। इसमें कई बाधाएँ हैं। ये बाधाएँ छोटी भी हैं और बड़ी भी। आंतरिक

भी हैं और बाहरी भी। साहित्य खाला का घर कभी नहीं रहा इस घर में पैठने के लिए शीश उतारकर भूमि पर रखने की अनिवार्य शर्त है। इधर अपने हिंदी साहित्य में कुछ महान आत्माओं की आवाजाही या घुसपैठ इस तरह बढ़ गयी है कि वह उक्ति याद आ जाये जिसमें कहा गया है कि समझदार जहाँ पैर रखने से डरते हैं मूर्ख वहाँ दौड़ लगाते हैं या कबड्डी खेलते हैं। कुछ अस्वाभाविक नहीं कि केंद्रानुरागी आशुतोषी कोमल साहित्यिक प्रतिभाएँ इन बाधाओं की कल्पना मात्र से कुम्हलाने और हकलाने लगती हैं। जो हो यही वह जगह प्रतीत होती है जहाँ देर-सबेर साहित्य का आत्मसंघर्ष होना है--- साहित्य की अपनी शर्तों पर।

और जनतंत्र

जनतंत्र समाज व्यवस्था की सब से अच्छी तरकीब है, लेकिन इसका ढाँचागत विकास राजनैतिक ही हुआ सामाजिक नहीं। जनतंत्र शासन की एक प्रणाली मात्र बनकर ही रह गया। जीवन-शैली के रूप में इसका स्वाभाविक विकास आज भी प्रतीक्षित ही है। जनतांत्रिकता का अमृत-तत्व मनुष्य आज भी हासिल नहीं कर पाया है। जनतंत्र का ढाँचा ही मनुष्य के हाथ लगा है इसका प्राण-तत्व नहीं। वैसे यह भी कोई कम बड़ी उपलब्धि नहीं है। जनतंत्र एक ऐसी व्यवस्था है जिसका ढाँचा विधि-समाज को गढ़ता है लेकिन जिसकी आत्मा सांस्कृतिक-समाज के गठन की अतृप्त आकांक्षा रखती है। राजनीति जनतंत्र को विधि-समाज के गठन और शासन की एक शैली तक ही सीमित रखना चाहती है जब कि साहित्य जनतंत्र को सांस्कृतिक-समाज के रूप में हासिल कर इसे जीवन की एक शैली के रूप में विकसित करना चाहता है। राजनीति और साहित्य के पारस्परिक संघर्ष का एक पहलू यह भी है। अपने ढाँचागत स्वरूप में उपलबध आज का जनतंतत्र एक ऐसी व्यवस्था है जिसमें घास के लिए भी आश्वासन होता है और घोड़े के लिए भी। जनतंत्रीय भावना का सर्वाधिक लाभ जनतंत्रविरोधी शक्तियाँ ही उठाती हैं। जनतंत्र एक ऐसी राजनीतिक-भौतिक व्यवस्था और शासन प्रणाली है जिसमें इसके द्वारा परम उपेक्षित और परम शोषित लोगों के मन में भी इसमें अपनी तत्सम भागीदारी के विश्वास का भ्रम सर्वाधिक सफलता के साथ बनाये रखा जाता है। यह व्यवस्था व्यक्ति और समुदाय के मित्रों और दुश्मनों के बीच खिचड़ी न्याय करती है। यह एक ऐसी व्यवस्था है जो जन के दुश्मनों का चेहरा अमूर्त कर देती है और दोस्तों के आगे की अगली कतार में स्म्मानजनक स्थान और हैसियत उपलब्ध करवा देती है। यह सब होता है जनेच्छा और जनादेश के नाम पर। जो इस ढकोसले को जानते हैं वे भी इसके प्रति सम्मानशील बने रहते हैं क्योंकि बावजूद सीमाओं के इससे बेहतर कोई व्यवस्था उपलब्ध नहीं हो पायी है। राम-रावण सब की सुननेवाली यह व्यवस्था नर के नारायण बन सकने की संभावना रचती है तो जरूरत के मुताबिक नारायण को भी नर रूप धरने के लिए विवश कर देती है।

जनतंत्र का प्राणधार होता है बहुमत का निर्णय। अब इस बहस की कोई वैधता ही नहीं बचती है कि बहुमत का निर्णय अगर सचमुच में भी बहुमत का निर्णय होता हो तब भी वह दस-बीस या सौ-पचास की जमात द्वारा सुझाये गये व्यक्तियों के विकल्पों में से ही किसी एक के पक्ष में निर्णय लेने की बाध्यता में लिया गया बहुमत का निर्ण्य ही होता है। इससे आगे बढ़ जाने पर वह जनतंत्र से आगे क्रांति के मैदान में जा पहुँचता है। जनतंत्र का निर्णय आगे बढ़कर क्रांति का जोखिम उठाने को तैयार नहीं होता है। यानी, जनतंत्र कुछ चुनिंदा लोगों के निर्णयों को ही अंतत: बहुमत के निर्णय की वैधता प्रदान करता है। जाहिर है, ऐसे निर्णयों से लाभान्वित होनेवाले जननायक जनप्रतिनिधि बाद में होते हैं पहले वे उन चुनिंदा लोगों के ही प्रतिनिधि सेवक होते हैं, जिन चुनिंदा लोगों ने उन्हें बहुसंख्यक जनता के सामने वैधता प्राप्ति के लिए उत्प्रेषित किया होता है। स्वभावत: ये जन की आकांक्षा की नहीं, आका की आकांक्षा की ही अधिक परवाह करते हैं। इस प्रकार जनतंत्र के ढाँचे में बहुमत के नाम पर अल्पमत की इच्छा से उत्पन्न आदेश-निर्णय ही चला करता है, पूरे सम्मान और वैधता के साथ। जन-लीला है कि राम-लीला! जनतंत्र के राग-हिंदुस्तानी या सुर-भारतीय का लौकिक अध्ययन किया जाये तो जनतंत्रीय ढाँचे की यह पूरी व्यवस्था लीलावती की ही कला का मायावी प्रसार प्रतीत होती है। यहाँ ठहरकर साहित्य क्षेत्र का विहंगम अवलोकन किया जाये तो कलावती की लीला के क्षेत्र का दृश्य भी कोई कम लोमहर्षक नहीं प्रतीत होगा। ठीक जनतंत्रीय ढाँचे के आधार पर विकसित विमर्श का इस्तेमाल करते हुए नामी-गिरामी गुरूकुल के आचार्य एवं बटुक अपनी, इच्छा और समीकरणों के अनुसार जिसे और जितनी अवधि के लिए चाहें महत्त्वपूर्ण घोषितकर साहित्य के जंगल में हाँका लगवा देते हैं। इनकी भी जय-जय और उनकी भी जय-जय! इनकी मर्जी के प्रभामंडल का ही कमाल है कि साहित्य में पहला सतरा लिख लेने का भ्रम होते ही महान संभावनाओं से युक्त रचना-प्रतिभाएँ इस या उस प्रविधि से गुरूकुलों की मिजाजपुर्सी में व्यस्त हो जाया करती हैं। मध्यकाल की गुरूआई और आज की गुरूआई के चरित का अपना अंतर है। चलन के अनुसार, गुरूकुलों के प्रति वफादारी ही जनता और साहित्य के प्रति वफादारी और प्रतिबद्धता का बुनियादी प्रमाण होता है। हाँ कुछ-कुछ नाम मरणोपरांत साहित्यिक विमर्श में स्थाई टेक के रूप में सभी पक्षों के द्वारा स्वीकार कर लिये जाते हैं, ताकि खेल चलता रहे। लीला का जादू बना रहे। इन नरपुंगवों को यह भी नहीं व्यापता कि ऐसे खेल से किसका और कितना बंटाढार होता है। खैर, इस प्रकार हिंदी साहित्य जनतंत्र की महान भावनाओं को आत्मार्पित और आत्म्सात कर रहा है। इस आत्मार्पण की प्रक्रिया में ग्लोबल स्तर से लेकर गोबर स्तर तक एक ही प्रकार की साइबर-क्रीड़ा हो रही है।

वस्तुत: साहित्य, समाज और जनतंत्र चक्रमान मानव-अस्मिता के समबाहु त्रिभुज की आधार-रेखाएँ हैं। इनमें से एक के भी अ-स्थिर या कंपित-झंपित होने से मानव विरोधी मानवीय प्रवृत्तियों की वैधता के लिए जगह बनने लग जाती है। आज तो ये तीनों आधार रेखाएँ भयंकर तनाव और भंगुरावस्था से गुजर रही हैं। इसलिए भी इतनी अधिक मात्रा में मानव विरोधी मानवीय प्रवृत्तियाँ वैधता प्राप्त करने में सफल हो जा रही है। हताशा ऐसी कि कई बार साहित्य, समाज और जनतंत्र की सार्थकता ही नहीं सार्थकता का भ्रम या आभास भी लुप्त होने लग जाता है। यह चिंतनीय स्थिति तो है लेकिन अभी समर शेष है। पुरानी प्रासंगिकताओं के चुकते ही नयी प्रासंगिकताओं के जन्म की प्रक्रिया भी प्रारंभ हो जाती है। मानवीय अस्मिता अपना नया त्रिभुज रचने लग जाती है। ऐसे हर नये त्रिभुज को नयी इच्छाओं, नये ज्ञान और नयी क्रियाओं की समन्वित शक्ति का प्राणबल प्राप्त होता है। यह सही है कि पूरे भारतीय राज्य के क्षेत्र में साहित्य और समाज की अवस्था एक-सी ही नहीं है लेकिन जहाँ तक हिंदी साहित्य, हिंदी समाज और हिंदी जनतंत्र का प्रसंग है तो इसमें दलित और कुछ हद तक स्त्री उभार के साथ ये नई आधार-रेखाएँ दीखने भी लगी हैं। हाँ इस उभार का राजनीतिक फेन और कचरा और उसके अतिरेक को देखकर कुछ लोग भयभीत, चिंतित, चकित और विचलित भले हों लेकिन यह फेन और कचरा इस उभार का अंतिम सत्य नहीं है। यह जरूर है कि दलित/ स्त्री शब्द और जीवन दोनों ही उपस्थित परिप्रेक्ष्य में अपरिभाषित अवश्य हैं और वे लेखन से ही परिभाषित होंगे और दलित/ स्त्री हित से आगे बढ़कर अपने विस्तृत साहित्यबोध का परिप्रेक्ष्य भी तलाश कर लेंगे। कुछ होशियार लोग दलित/ स्त्री को अलग से और गये जमाने की स्मृति के आधार पर परिभाषित और नियंत्रित कर लेखन को संभव करना चाहते हैं। दरअसल, ऐसे होशियार लोग उन्हीं के औजार से खेल रहे हैं जिनके खिलाफ उन्हें खेलना नहीं लड़ना है।

साहित्य, समाज और जनतंत्र के विकास का नया चरण द्वार पर उपस्थित है। इसके आगमन को बाजार की मुनादी और साइबर तूफान के बल पर स्थगित करवाने में मानव विरोधी शक्तियाँ कामयाब न होने पाये इसके लिए सचेष्ट और सक्रिय रहना इस समय साहित्य, समाज और जनतंत्र की सबसे बड़ी और सच्ची नैतिक चुनौती है।

इस सामग्री के उपयोग के लिए लेखक की सहमति अपेक्षित है।
सादर, प्रफुल्ल कोलख्यान